# जैन संस्कृति की विशेषताएँ

□ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

## संस्कृति

संस्कृति शब्द के तीन घटक हैं—सम्+स्+कृति। सम् का अर्थ है—सम्यक्, स्—का अर्थ है शोभाधायक तथा कृति का अर्थ है—प्रयत्न, इच्छापूर्वक किया गया व्यापार। इस प्रकार संस्कृति का सम्पिण्डित रूप में शब्दार्थ हुआ—शोभाधायक बिवेकसम्मत प्रयत्न। इच्छापूर्वक किया गया प्रयत्न जीवधारियों में ही संभव है। अभिप्राय यह कि प्राणीमात्र द्वारा संपाद्य जीवनधारणोपयोगी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपी व्यापार ही पृथक् है। प्रयत्न जिस शक्ति से संपाद्य है—वह दो प्रकार की है—प्रकृति प्रदत्त या सहजात शक्ति तथा अर्जित शक्ति। पशु का शिशु तैरना जन्मतः जानता है, पर मनुष्य का शिशु उसे अर्जित करता है। यह अर्जित शक्ति बुद्धि या विवेक है। मानवेतर जीवन धारणोपयोगी प्रयत्न सहजातवृत्ति से और मानव अर्जित वृत्ति से करता है—उसका प्रयत्न विवेकसम्मत प्रयत्न होता है। इसीलिए इसका प्रयत्न सम्यक् प्रयत्न है। विवेकसम्मत प्रयत्न या बुद्धि विचेष्टन कभी-कभी मानव समाज के लिए अहितकर फलतः मानव के लिए शोभाधायक नहीं होता। विवेकसम्मत प्रयत्न शोभाधायक भी हो—लोक मांगलिक भी हो—इसके लिए आवश्यक है कि वह मानवीय भाव से प्रेरित भी हो। भावात्मक प्रतिक्रिया स्नायुमंगल से सम्बन्ध रखती है अतः वह पशु में भी संभव है, पर मानवीय भावात्मक प्रतिक्रिया वही है, जिसमें लोकमंगल की सुगन्ध हो। यह संभावना प्रकृति ने मनुष्य में ही दी है कि उसका विवेकसम्मत प्रयत्न लोक मांगलिक हो। मनुष्यता की चरितार्थता इसी में है। इसीलिए विश्वभर के महामानव और उनके द्वारा प्रवर्तित प्रस्थान लोक मांगलिक मान्यताओं और मूल्यों का एक स्वर से समर्थन करते हैं ? ऐसे प्रयत्न को विकृति नहीं, संस्कृति ही कह सकते हैं। यह प्रकृति का संस्कार है, जिससे संस्कारित मानव से मानवता की दीप्ति प्रस्फुटित होती है और आस-पास तक का अन्धकार छट जाता है—लोक सत्पथ पर आरूढ़ हो जाते हैं और गन्तव्य की ओर चल पड़ते हैं। संस्कृति लोक मांगलिक उपयोगी–प्रयत्नों के मूल में निहित मूल्यों की समष्टि का ही नामान्तर है। डा० राजवली पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि means of life सभ्यता से और values of life संस्कृति। हमारे भौतिक जीवन यापन के समुन्नत साधनों से हमारी सभ्यता नापी जाती है और लोकमंगलोपयोगी मूल्यों से हमारी संस्कृति। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जब कहते हैं कि संस्कृति उच्चतम चिन्तन का मूर्तरूप है तब वे इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं। मुनि विद्यानंदजी ने ठीक कहा है कि संस्कृति आत्मिक सौन्दर्य की जननी है। इसी के अनुशासन में सुसंस्कारसम्पन्न मानवजाति का निर्माण होता है। सम्पन्नता और संस्कृति में बहिरंग और अन्तरंग धर्म का अन्तर है। निष्कर्ष यह कि लोक मांगलिक भावना की छाया में जो विचार और अनुरूप आचार निष्पन्न होते हैं—संस्कृति उन्हीं की समष्टि है। मानव की आत्म-मंगलोन्मुखी तथा लोकमंगलोन्मुखी यात्रा अनुरूप और उच्चतम भाव, विचार तथा आचार के एकीकरण में ही सम्भव है। संस्कृति उच्चतम चिन्तन का मूर्तरूप है—कितनी सटीक उक्ति है। चिन्तन का मूर्तरूप ही प्रयत्न है, चिन्तन वही उच्चतम या शोभाधायक होगा जो लोक मांगलिक होगा और लोक मांगलिक वही होगा जो मानव भावना से प्रेरित होगा। इसलिए संस्कृति विवेकसम्मत तथा शोभाधायक प्रयत्न का नामान्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## जैन संस्कृति

जब हम संस्कृति शब्द के आगे कोई विशेषण लगाते हैं तब हमारा क्या अभिप्राय होता है ? भारतीय संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, श्रमण संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति आदि शब्द क्या सस्कृति की अखण्डता बाधित करते हैं ? क्या संस्कृति में संभावित परस्पर-विरोधी विभिन्न विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं ? या विभिन्न देश, काल तथा व्यक्ति साध्य उस अविरोधी तत्त्व की ओर, जिससे विश्वमंगल होता है ? आत्ममंगल होता है ? हो सकता है कालभेद, देशभेद और समाजभेद से संस्कृत व्यक्ति के आचार भिन्न हों, विचार भिन्न हों—पर क्या गन्तव्य भी भिन्न हैं ? देशभेद, कालभेद तथा समाजभेद से उस आत्ममंगल या विश्वमंगल की ओर ले जाने वाले आचार और विचार साधन काल में प्रकृतिभेद से भिन्न-भिन्न हों—पर लक्ष्य सबका एक ही है, जिस तत्त्व में सबका एकमत्य या अविरोध न हो– वह संस्कृति है ही नहीं। गन्तव्य या मूल लक्ष्य से कटकर ये साधक आचार-विचार परस्पर-विरोधी रूप में जब जब साध्य हुए हैं—इतिहास साक्षी है तब-तब हम दिग्भ्रान्त हुए हैं और मानवता का अहित हुआ है। देश-काल-समाजभेद से भिन्न आचार-विचार उस देश, उस काल तथा उस समाज की पृथक्-पृथक् पहचान करा सकते हैं—लेकिन समष्टि रूप में उन सबका गन्तव्य एक ही है। संस्कृति का हृदय एक ही है–उसका प्रकाशक आचार-विचार भिन्न हो सकता है। अतः जब हम जैन संस्कृति शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा आशय यह है कि जिनानुयायियों का एक समाज है और वह अपनी संस्कृति की पहचान कराने वाली आचार एवं विचारगत कतिपय विशेषताओं से मण्डित है, जो अन्यत्र नहीं है; पर उसका अर्थ यह नहीं कि अन्य संस्कृतियों के हृदय से उसका हृदय भिन्न है। जिस देश, काल तथा समाज में लोकमंगलोन्मुखी भावना को चरितार्थ करने का प्रयत्न नहीं हुआ, उससे संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार जैन संस्कृति का अर्थ हुआ कि जिनानुयायियों ने संस्कृति के हृदय तक पहुँचने का मार्ग क्या बनाया, किन-किन आचार और विचारों के माध्यम से वे संस्कृति के हृदय तक पहुँच सके ? एक संस्कृतिवाहक के रूप में उन्होंने अपनी पहचान किस तरह कायम की है ?

**संस्कृति एक प्रवाहमान सरिता है**—जब हम एक विशिष्ट पहचान वाली जैन संस्कृति की बात करते हैं तब हमें एक और बात पर ध्यान देना चाहिए। वह यह है कि जैन संस्कृति या श्रमण संस्कृति शताब्दियों पूर्व से अपनी एक विशिष्ट पहचान के साथ चली आ रही संस्कृति है। अपनी इस लम्बी यात्रा में उसने न जाने किन-किन संस्कृतियों के सम्पर्क में अपने को पाया हो। फलतः उसे प्रभावित करती और स्वयं प्रभावित होती गतिशील रही है। इसलिए किसी भी संस्कृति में आज आचार-विचार के रूप में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है—वह सब उसी का है, यह कहना कठिन है। साथ ही अन्य सांस्कृतिक धाराएं भी उससे पर्याप्त प्रभावित हैं और कितना कुछ ग्रहण किया है उन्होंने उससे—यह भी परीक्षणीय है। पण्डित सुखलालजी की धारणा है—ब्राह्मण संस्कृति ने श्रमण संस्कृति से बहुत कुछ लिया है और श्रमण संस्कृति के अनुयायियों में भी ब्राह्मण संस्कृति से बहुत कुछ आ गया है। संन्यास तथा जन्मजन्मान्तर के भवचक्र से निवृत्ति ब्राह्मण संस्कृति के लिए जैन संस्कृति की देन है और जैन संस्कृति के लिए देवी-देवताओं की उपासना, तन्त्र-मन्त्र की साधना, स्त्री और शूद्र का बहिष्कार, यज्ञोपवीत धारण आदि ब्राह्मण परम्परा की देन है। इस प्रकार आज जिनानुयायी समाज की जैन संस्कृति अजैन सांस्कृतिक तत्त्वों से भी सम्बलित है।

**जैन संस्कृति का अन्तरंग पक्ष**—प्रत्येक संस्कृति की तरह जैन संस्कृति के भी दो रूप हैं—बाहरी परिचायक विशेषताएँ और आन्तरिक अपरिवर्तनीय तत्त्व। बाहरी विशेषताओं में उनके अपने शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उपाश्रय—उसका स्थापत्य, उपासना, प्रकार, उत्सव, त्यौहार आदि; पर ये सबके सब संस्कृति के हृदय पक्ष से जुड़कर रहें, तब तो जीवन और लक्ष्यसाधक हैं, कट जाने पर मात्र रूढ़ि और निर्जीव है। इस सन्दर्भ में यह समझना आवश्यक है कि जैन संस्कृति का हृदय या अन्तरंगत्व क्या है ? पण्डित सुखलालजी का विचार है—"जैन संस्कृति का हृदय केवल जैन समाज-जात और जैन कहलाने वाले व्यक्तियों में ही सम्भव है—ऐसी कोई बात नहीं है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश-काल, जात-पाँत, भाषा और रीति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बाँध सकते हैं।" (जैन संस्कृति का हृदय पृ० २) उनके अनुसार जैन धर्म का हृदय है—निवर्तक धर्म। जन्मजन्मान्तर के चक्र से निवृत्ति को लक्ष्य बनाकर चलने वाला धर्म-निवर्तक धर्म है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि सुख की कामना प्राणिमात्र से जुड़ी है और इसे पाने की दिशा में सबका प्रयास है। विश्व में इसे पाने वालों के दो वर्ग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—अनात्मवादी तथा आत्मवादी। पहला मानता है कि सब कुछ विनश्वर है और दूसरा मानता है कि इस दृश्यमान विनश्वर में अविनश्वर भी कुछ है—जो जन्म और मरण जैसे परिवर्तनों के बावजूद निरन्तर विद्यमान है। अनात्मवादी उस प्रकृतिज्ञान सुख की कामना को शरीर से ही जोड़ता है और कामसुख को ही सबसे बड़ा सुख मानता है। आत्मवादी धारा में भी दो वर्ग हैं—एक वह जो जन्म-मरण के चक्र का उच्छेद नहीं मानता, यह लोक के साथ परलोक की भी कल्पना करता है और इहलोक में अपेक्षाकृत चिरस्थायी तथा समृद्ध पारलौकिक सुख के निमित्त कुछ (श्रुति-स्मृतिनिर्धारित) विशिष्ट कर्मों का सम्पादन करता है। उसका प्रयत्न रहता है कि वह इस जन्म से भी अधिक सुख जन्मान्तर में प्राप्त करे और ऐहिक से भी अधिक आमुष्मिक सुख लाभ करे। इन लोगों का पुरुषार्थ अर्थ-काम से आगे बढ़कर 'धर्म' है। निष्कर्ष यह कि प्रवर्तक धर्म का उद्देश्य समाज व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार है। इनका धर्म है कि जिस समाज में रहे उसके लिए ऐसी व्यवस्था दे जो इस समाज के प्रत्येक सदस्य को सुखी रखे, साथ ही जन्मान्तर का भी सुधार करे। वैदिक धर्मानुयायी मीमांसक प्रवर्तकधर्मी ही थे। आत्मवादियों का एक दूसरा वर्ग भी था जो कि मानता था कि ऐहिक और पारलौकिक सुख सातिशय सुख है—एक से एक बढ़कर है—फलतः सुखभोक्ताओं में सुख के साथ साथ ईर्ष्याजन्य दुःख की भावना का भी संभेद है; निखालिस सुख तो काम्य है—वह है नहीं। उसकी उपलब्धि आत्मोपलब्धि से ही सम्भव है। सुख परापेक्षी होता ही नहीं—पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

इहलोक और परलोक का सुख कितना भी ऊँचा क्यों न हो, वह अन्ततः विनश्वर है। इसलिए निवर्तक धर्म वालों ने ऐसे सुख की तलाश की, जो कभी नष्ट न हो। कभी नष्ट न होने वाला अविनश्वर तत्त्व तो आत्मा ही है—वही यदि मिल जाय तो विनश्वर तथा निरतिशय सुख की उपलब्धि हो सकती है। इस दिशा में प्रयत्नशील होने पर चतुर्थ पुरुषार्थ की खोज हुई जिसे 'मोक्ष' कहा गया। मोक्ष आत्मा की वह स्थिति है, जिसमें प्रतिष्ठित होने के बाद जन्म-मरण का चक्र सदा-सदा के लिए उच्छिन्न हो जाता है। प्रवर्तकधर्मी आत्मवादी जिन क्रियाओं को अपने लक्ष्य का साधक मानते थे, निवर्तकधर्मी उन्हें बाधक समझते थे और उनका मार्ग केवल आचार-शुद्धि और विचार-शुद्धि का था। उन्होंने सोचा कि आत्मा की उस स्थिति तक कैसे पहुँचा जाय, जिसे मोक्ष कहते हैं? बाधा क्या है? बाधक हट जाय, तो आत्मा अपनी वैभाविक स्थिति से स्वाभाविक स्थिति में कैसे आये? आवरण कैसे हटे? इसके लिए उन लोगों ने मोक्षमार्ग का निरूपण किया।

सुखलालजी का यह कहना बहुत ठीक है कि प्रवर्तक धर्म इच्छा का परिष्कार करता है जबकि निवर्तक धर्म इच्छा का सर्वथा निरोध। प्रवर्तक धर्म सामाजिक धर्म है और निवर्तक वैयक्तिक। पहला ऐहिक सुख के लिए सामाजिक कर्तव्य करता है और पारलौकिक सुख के लिए धार्मिक अनुष्ठान। इन कर्तव्य-धर्मों से उनकी इच्छा का परिष्कार होता है। निवर्तकधर्मी मानते हैं कि इच्छा मात्र स्वरूप-स्थिति में बाधक है—चाहे वह जैसी भी हो। कारण, वह अनात्म से जोड़ती है—उसमें ममता पैदा करती है—आत्म-विमुख करती है। प्रवर्तकधर्मी ने 'इच्छा' का परिष्कार करते-करते उसे आत्मोपलब्धि में बाधक नहीं, साधक सिद्ध करते गए और यहाँ तक कहा कि आत्मोपलब्धि इच्छात्मक स्वरूप शक्ति से ही सम्भव है। हाँ, इस बात पर दोनों सहमत थे, कि अनात्मदर्शी की विषयात्मक इच्छा आत्मोपलब्धि में बाधक है। इसीलिए आगमों के माध्यम से इन प्रवर्तकधर्मियों ने राग के रूप में मोक्ष से भी ऊपर एक पंचम पुरुषार्थ की स्थापना की। अस्तु, यहाँ हमें जैन संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालना है, उसके हृदय को स्पष्ट करना है। उसका हृदय है—निवर्तकतत्त्व, इच्छामात्र की निवृत्ति, जन्मचक्र का उच्छेद, आत्मोपलब्धि। बुद्ध ने भी कहा था—'**अत्तदीपा विहरथ**"। कर्मकाण्ड भव-चक्र से मुक्ति नहीं दिला सकता। भगवान् बुद्ध ने भद्रवर्गीय सुखान्वेषी मित्रों से कहा था—"**अत्तानं गवेसेय्याथ**"—सम्पत्ति लुटाकर भगी हुई वेश्या का नहीं, यदि अविनश्वर सुख चाहते हो, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने आपको ढूँढ़ो । इसके लिए "**अत्तसरणा**" तथा अन्यसरण हो । इच्छाहीन व्यक्ति ही '**सुखमक्षयमश्नुते**—अविनश्वर सुख पा सकता है । भगवान् बुद्ध अनात्मवादी नहीं थे । उनका आशय यह था—पाँच स्कन्ध, द्वादश आयतन तथा अठारह धातुओं में से ऐसा कुछ नहीं था, जिसके लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया जा सके । बुद्ध की दृष्टि में से ये सब धर्म अनित्य हैं और जो अनित्य है वह दुःख है—**यदनिच्चं तं दुक्खं य दुक्खं तदनत्ता**"— जो अनित्य है वह दुःख है और जो दुःख है वह अनित्य है । अनित्यों का आत्मरूपेण निषेध करता हुआ चिन्तक आत्मोपलब्धि कर लेगा । फिर भी बौद्ध और जैन मार्गों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं—बौद्ध चितशुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं, उतना बल बाह्य तप और देहदमन पर नहीं । इस प्रकार जैन संस्कृति का हृदय निवर्तक धर्म ब्राह्मण तथा बौद्ध संस्कृतियों में भी किसी न किसी प्रकार व्याप्त है—मौजूद है—तथापि ऐसा कुछ है—जो उसी का माना जाता है—अन्यत्र भी संक्रान्त हो—यह दूसरी बात है ।

**जैन संस्कृति की विशेषताएँ**— संस्कृति के दो पक्ष हैं—विचार और आचार । जैन संस्कृति अपने दोनों पक्षों में अहिंसात्मक है । अहिंसा उसका आचार पक्ष है और अनेकान्त विचार पक्ष । आचार और विचार उभयत्र हिंसा निषेध्य है । हिंसा है क्या ? **प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा**— "स्वरूपविस्मृति ही प्रमाद है, इसी के कारण व्यक्ति अनात्म में ममता करने लगता है—राग-द्वेष रखने लगता है । इस प्रकार का लाभसिक्त आत्मा अपनी निर्मल मनोवृत्ति का घात करता है—अतः सबसे बड़ी हिंसा कषाय है—वह नैर्मल्य का विरोधी है—नैर्मल्य का विरोध ही आत्मघात है । पर-घात तो हिंसा है ही, आत्मघात भी हिंसा है और है यह कषाय, राग-द्वेष । पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है—

**अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।**
**तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥**

चैतन्य की निर्मल वृत्ति का जिससे घात हो वह हिंसा है । केवल क्रोध या तन्मूलक प्रवृत्ति ही हिंसा नहीं है—वे सारे भाव और तन्मूलक अनवधानगत प्रवृत्तियाँ हिंसा हैं, जिनसे चैतन्य की निर्मलवृत्ति का घात होता हो ।

अहिंसा गृही और मुनि की दृष्टि से स्तर भेद रखती है । गृहस्थ स्थूल हिंसा नहीं करता, अर्थात् कर्तव्यपालन दृष्टि या सम्पन्न हिंसा उसके लिए वर्जित नहीं है । वह अहिंसा का विरोधी नहीं है । कारण, वह भावपूर्वक नहीं है, कर्तव्यबुद्ध्या संपाद्य है । अहिंसक दैन्य और दौर्बल्य का पक्षधर नहीं होता, न्याय का पक्षधर होता है । न्याय पर वीर ही टिक सकता है । गृहस्थ जो प्राथमिक साधक है—उसके लिए हिंसा चार प्रकार की हैं—संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी । हिंसा का करना घातक है, हो जाना प्राथमिक साधकों के लिए क्षम्य है ।

अहिंसक वृत्ति वाले के लिए सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे महाव्रत अनायास सिद्ध हो जाते हैं । संस्कृति में जो प्रयत्न है—वह प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप है । यदि 'अहिंसा' हिंसा से निवृत्ति है, और यह निषेधात्मक पक्ष है तो उसका दूसरा विधेयात्मक पक्ष है—प्राणियों पर प्रेम करना, उनका उपकार करना ।

आचारगत अहिंसा के बाद इस संस्कृति की दूसरी महनीय विशेषता है—विचारगत अहिंसा, कदाग्रह का त्याग, एकान्त आग्रह का न होना । जैन आचार्यों ने वैचारिक अहिंसा के लिए ही 'अनेकान्त' दृष्टि की स्थापना की । इस दृष्टि का अभिव्यक्ति पक्ष है—स्याद्वाद । इस दर्शन में वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। वस्तु के किसी गुण या पर्याय (अवस्था) का किसी एक दृष्टि से वर्णन ही स्याद्वाद् है । जहाँ अन्य लोग वस्तु को केवल सत्, केवल असत्, उभयात्मक तथा अनुभयात्मक या अनिर्वचनीय कहे जाने पर आग्रह करते हैं, वहीं जैन चिन्तन इन सबको आत्मसात् कर अपना अनेकान्त पक्ष रखता है । वस्तु का सही रूप तो अनुभववेद्य है । अनन्तधर्मात्मक वस्तु सीमित बुद्धि की पकड़ में नहीं आ सकती, मनुष्य की बुद्धि कतिपय अपेक्षाओं से नियन्त्रित होकर वस्तु के धर्मों को पकड़ती है—अतः वस्तु के स्वरूप के प्रति अपनी प्रतिक्रिया उसी दायरे में ही देगी और उससे भी असमर्थ 'भाषा' उसे स्याद्गर्भ अभिव्यक्ति देगी। हमारी बुद्धि व्यक्तिगत रुचियों, संस्कारों, सन्दर्भों, आवश्यकताओं से रंजित होकर ही 'वस्तु' के विषय में स्याद्वादी अभिव्यक्ति करती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फलतः विश्व के तमाम मतभेद जो एकान्तिक दृष्टि के कारण खड़े होते हैं और संस्कृति को विकृत करते हैं—अनेकान्तवाद उन्हें निरस्त कर देता है—वैचारिक हिंसा को निर्मूल कर देता है।

जैन संस्कृति की उपर्युक्त दो विशेषताएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे उनका उच्चतम चिन्तन अपनी और भी अनेक ऐसी विशेषताएँ रखता है, जो इस सन्दर्भ में उल्लेख्य हैं।

जैन दर्शन में छः द्रव्य हैं। सभी सत् हैं—अनन्त धर्मात्मक हैं—गुण पर्याय (स्व-पर) युक्त है। जीव और अजीव द्रव्यों में से अजीव द्रव्य पाँच हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। जहाँ अन्य लोग जीव को अणु या विभु मानते, वहाँ जैन मध्यम परिणाम मानते हैं। धर्म-अधर्म की इनकी अपनी धारणा है—जो जीव की गति तथा स्थिति में सहकारी है। आकाश में भी लोकाकाश के अतिरिक्त अलोकाकाश की इनकी अपनी भिन्न कल्पना है। इनके पुद्गल रूप, रस गन्ध, स्पर्श सम्पन्न होते हैं, भिन्न-भिन्न महाभूतों के अलग-अलग परमाणु नहीं होते।

**कर्मवाद** सम्बन्धी इनकी धारणा सर्वथा भिन्न है। ये लोग कर्म को द्रव्यात्मक मानते हैं—पौद्गलिक मानते हैं। कषाययुक्त जीव के तन, वचन और मन से जब कोई क्रिया होती है तो आस-पास के परमाणुओं में हलन-चलन होता है और उनमें एक कर्मशक्ति पैदा होती है। कर्मशक्तिसम्पन्न सूक्ष्म परमाणु आत्मा पर चिपक जाते हैं और सूक्ष्म शरीर में जुड़ जाते हैं। कर्मशक्तिसम्पन्न ये सूक्ष्म परमाणु ही आस्रव है, बन्ध है। परमाणुओं का आस्रवण होता रहता है। आवश्यकता है इस आस्रवण के संवरण की और संचित के जीर्ण करने की। तभी मोक्ष सम्भव है। इस मोक्ष का मार्ग है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। तीनों सम्मिलित रूप से ही साधन है।

इनकी ज्ञान मीमांसा भी अपने ढंग की है। ये लोग आत्मसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियमनःसापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहते हैं।

इस प्रकार चिन्तन के स्तर पर प्रामाण्यवाद में भी इनकी अपनी पृथक् स्थिति है।

जैन चिन्तन की चाहे अपनी जो विभिन्न उपलब्धियाँ हों, देखना यह है कि संस्कृति के सामान्य उद्देश्य से जैन संस्कृति का उद्देश्य सामंजस्य है या नहीं? ऊपर संस्कृति की बात करते हुए स्थिर किया गया है—वह है—शोभाधायक (लोकमांगलिक) विवेकसम्मत प्रयत्न (प्रवृत्ति-निवृत्ति)। जैन-संस्कृति का हृदय है—भवचक्र से निवृत्ति—निवर्तक धर्म, जो व्यक्तिगत है। इसका लोकमंगल से सम्बन्ध कैसे जुड़े? कोई भी संस्कृति केवल अपने इतिहास और पुरानी यशोगाथाओं के सहारे न जीवित रह सकती है और न ही प्रतिष्ठा पा सकती है, जब तक वह समाज या लोक के भावी निर्माण में योग न दे। इस दृष्टि से विचार करने पर यद्यपि इस संस्कृति का लक्ष्य व्यक्तिगत "निवृत्ति" है और इसका स्तर ढांचा उसी उद्देश्य के अनुरूप गठित हुआ है, तथापि अब यह स्पष्ट है कि यह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित नहीं है। उसने एक विशिष्ट समाज का रूप ग्रहण कर लिया है।

सामान्यतः लोगों की धारणा है कि जैन संस्कृति निवृत्तिपरक है—ऐसी निवृत्तिपरक, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि वह प्रवृत्तिविरोधी है, ठीक नहीं। पाँचों महाव्रतों को धारण करने की जो शास्त्रों में आज्ञा दी गई है, उसका मतलब है—सद्गुणों में प्रवृत्ति, सद्गुणपोषक प्रवृत्ति के लिए बल प्राप्त करना। यह कहना कि प्रवृत्ति कर्ममूलक है और जब तक कर्मक्षय न होगा, निवृत्ति न आयेगी और जब तक कर्मक्षयमूलक निवृत्ति न आयगी तो मुक्ति न होगी—हमारा लक्ष्य पूरा न होगा। अतः निवृत्ति ही जैन संस्कृति का लक्ष्य है—सही है, पर और गहरे उतरकर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि निवृत्ति का प्रवृत्ति से विरोध नहीं है—असत् प्रवृत्ति से विरोध है। सत् प्रवृत्ति असत् प्रवृत्ति का विरोध करती है और इस प्रकार निवृत्ति के क्षण से पूर्व तक प्रवृत्ति, सत्यवृत्ति चलती रहती है। यह सत्यवृत्ति जब असत् रूपी अपना ईंधन न पायेगी, तब स्वयं बुझ जायगी और निवृत्ति का चरम बिन्दु स्वयं प्रतिष्ठित हो जायगा। हिंसा सर्वथा निवृत्त हो जायगी, तो जो शेष बचेगा, वह अहिंसा ही होगी।

दूसरे, जब समाजगत कोई संस्कृति होती है तो ऐसे प्रवर्तक मूल्यों को अपनाना ही पड़ता है जिससे समाज-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल हो। जैसे केवल प्रवृत्ति मार्ग कभी कभार प्रवृत्त को आंधी में उड़ा सकता है, वासना के प्रवाह में डुबो सकता है, वैसे ही केवल निवृत्ति जो प्रवृत्तिशून्य है, हवा का महल मात्र बनकर रह सकती है। आज संचार माध्यमों और वैज्ञानिक साधनों से विश्व सिमट कर नये विश्वसमाज का गर्भ धारण कर रहा है—प्रसव पीड़ा भोग रहा है। संस्कृति सामान्य की तरह जैन संस्कृति को भी इस भावी समाज के निर्माण के लिए अपेक्षित प्रवर्तक गुणों को अपनाना पड़ेगा। सच पूछिए तो प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गीताकार ने निवृत्तिमूलक प्रवृत्तिको अपनाते हुए यहाँ तक कह दिया कि जहाँ जीना-मरना, उठना-बैठना, सांस लेना-छोड़ना भी प्रवृत्ति है और प्रवृत्तिशून्य होकर रहना कैसे सम्भव है, फिर भी सम्भव है, मनसा अनासक्त भाव से प्रवृत्त होने से ही। ऋषभदेव से लेकर आज तक जो जैन संस्कृति जीती चली आई है वह एक मात्र निवृत्ति के बल पर ही नहीं, प्रत्युत अपनी कल्याणकारी प्रवृत्ति के बल पर। यदि प्रवर्तकधर्मी ब्राह्मण संस्कृति निवृत्तिपरक संस्कृति के सुन्दर गुणों को अपनाकर लोक-कल्याणकारी हो सकी है तो निवृत्तिधर्मी संस्कृति को भी चाहिए कि वह प्रवर्तकधर्मी लोक-मांगलिक मूल्यों को अपनावे और आत्मगत मल-शोधन के साथ-साथ निर्मल चित्त से लोकमंगल का भी विधान करे। जैन संस्कृति अपने आचारगत अहिंसा और विचारगत अनेकान्त को लेकर भी उससे अविरोधी मूल्यों का ग्रहण कर सकती है। यदि वह "अहिंसा" का निषेधात्मक रूप लेती है तो विश्वप्रेम जैसा विधायक रूप भी ग्रहण कर सकती है। दोष निषेध्य हैं, पर गुण नहीं। दोषों से निवृत्त अंतस् ही गुणों का आगार हो सकता है। सत्य केवल से असत्य की निवृत्ति हो सकती है। परिग्रह और चौर्य से बचना हो, तो त्याग और संतोष में प्रवृत्त होना होगा। संस्कृति आसक्ति के त्याग का संकेत देती है—प्रवृत्ति मात्र के त्याग का नहीं। समाज के धारण, पोषण और विकास के अनुकूल प्रवृत्तियाँ विधेय हैं। आज आवश्यक है कि त्यागी वर्ग का भी ध्यान इधर जाना चाहिए और गृहस्थ आश्रम को समाज का संरक्षण होना चाहिए। आज के जीवन में जो विघटनकारी वृत्तियाँ घर करती जा रही हैं; जैनसंस्कृति के उन्नायकों का यह कर्तव्य है कि वे उनको निर्मूल कर लोकगत सात्विक वृत्तियों का उन्मीलन करें। यदि जैन संस्कृति संस्कृति के इस सामान्य लक्ष्य का अपवाद बनती है तो वह सिमटकर व्यक्तिगत ही रह जायगी। महावीर के साथ ऋषभनाथ तथा नेमिनाथ के आदर्शों को भी हमें जीना है।

□□□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org